

अहिंसा के बारे में मार्टिन लूथर किंग का कथन आज सही सिद्ध हो रहा है

How the world is proving Martin Luther King right about nonviolence

Erica Chenoweth and Maria J. Stephan

Washington Post, January 18, 2016

Translation: Madhu Bala Joshi, September 2018 (Evaluated by Ramesh Sharma)

अहिंसा के बारे में मार्टिन लूथर किंग का कथन आज सही सिद्ध हो रहा है

लेखिकाएं: एरिका चेनोवेथ और मारिया जे. स्टीफन जनवरी 18, 2016



यमन की सामाजिक कार्यकर्ता तवक्कुल कर्मन (दायें, सफ़ेद स्कार्फ़ में) को महिला-अधिकारों के समर्थन में उनकी अहिंसक सक्रियता के लिए नोबल शान्ति पुरस्कार से सम्मानित किया गया है. प्रेषक: सुदर्शन राघवन फोटो एडिटर:

“भारत से लौटने तक मेरा यह विश्वास और पक्का हो चुका था कि आजादी के संघर्ष में अहिंसक प्रतिरोध दबे-कुचले लोगों का सबसे बड़ा हथियार है.” – “मार्टिन लूथर किंग जूनियर की आत्मकथा,” सम्पादक: क्लेबोर्न कार्सन.

2011 से ही विश्व एक गहन विवादास्पद स्थान बना हुआ है. वैसे तो आज पूरे मध्य पूर्व, साहेल और दक्षिण एशिया में सशस्त्र विद्रोह हो रहे हैं, पर अपनी शिकायतों का निपटारा करने के लिए हिंसक नागरिक संघर्ष अब किसी का पसंदीदा तरीका नहीं रह गया. बल्कि अब तो ट्युनिस से लेकर तहरीर चौक तक, ज़ुक्कोत्ति पार्क से लेकर फ़र्ग्यूसन तक, और बुर्कीना फ़ासो से लेकर हांगकांग तक, दुनियाभर के आन्दोलनकर्ता बदलाव के लिए गाँधी, किंग और ऐसे ही स्थानीय और विदेशी अहिंसक नेताओं से सबक ले रहे हैं.

अहिंसक विरोध - जिसमें निहत्थे लोग आपस में तालमेल बिठाकर हड़ताल, प्रतिवाद, बहिष्कार और दूसरी कार्यवाहियों द्वारा प्रतिपक्षी का सामना करते हैं- के प्रति गाँधी और किंग के प्रतिपादित आग्रह के भी कई आलोचक हैं। इनमें से कुछ आलोचनाओं का कारण नागरिक प्रतिरोध का सही अर्थ न समझ पाना है तो कुछ का कारण दबे-कुचले और निहत्थे लोगों की संगठित होने और शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी को चुनौती देने की क्षमता पर संदेह है। हर नए आन्दोलन को इन चुनौतियों का सामना तो करना ही पड़ता है, साथ ही इन सवालों का जवाब भी देना पड़ता है कि आखिर अडिग सत्ता और व्यवस्थागत उत्पीड़न के आगे अहिंसक विरोध कितना कारगर साबित होगा? ऐसे ही सवालों की पड़ताल करते हुए हमने 2011 में एक किताब छपी थी और यह बात बड़े अप्रत्याशित रूप से सामने आई कि जहां तक सत्तासीन राष्ट्रीय नेताओं को हटाने या प्रादेशिक स्वतंत्रता हासिल करने का सवाल है, अहिंसक विरोध करनेवाले अभियान, हिंसक विरोध करनेवाले अभियानों से, दुगने से भी ज्यादा सफल रहे हैं।

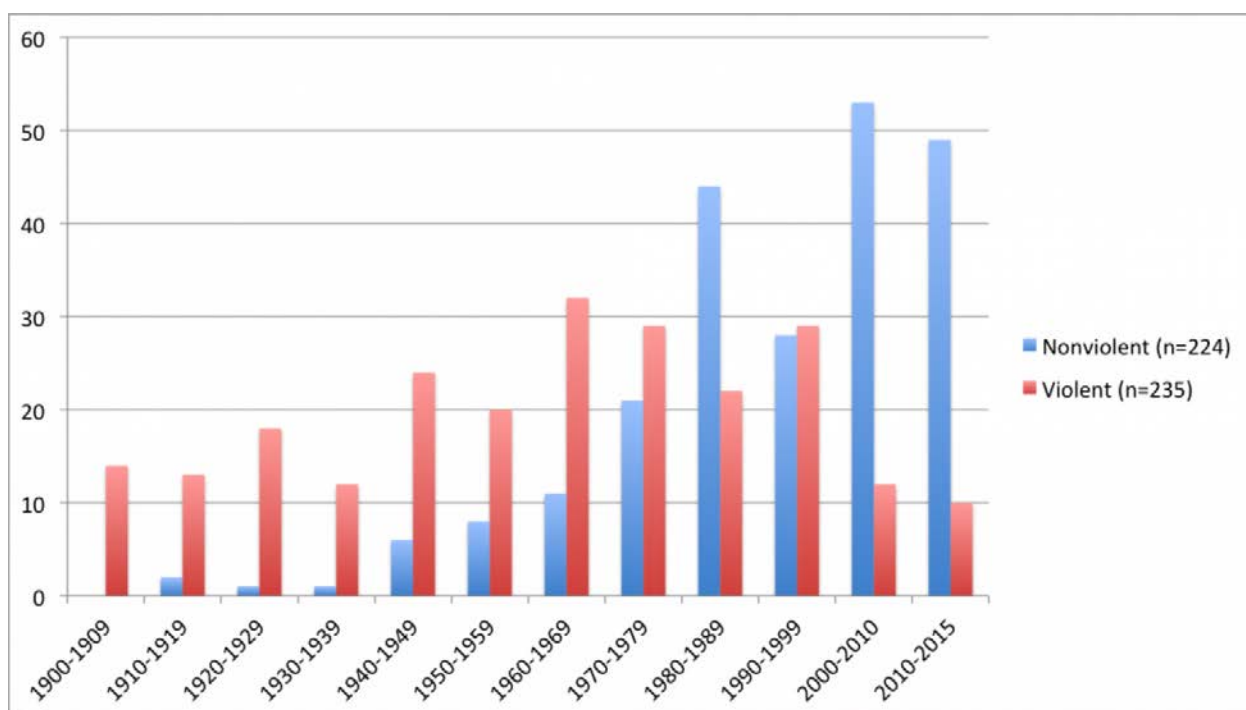
हमारा इस नतीजे पर पहुंचना कुछ लोगों को हमारा अनाड़ीपन लग सकता है। लेकिन सारे आंकड़ों को देख-परखकर हमने पाया कि अहिंसक विरोध करनेवाले अभियान केवल अपने प्रतिद्वंद्वियों का हृदय परिवर्तन करने के कारण सफल नहीं होते। वे इसलिए सफल होते हैं क्योंकि अहिंसक अभियानों में ज्यादा से ज्यादा लोगों को प्रेरित करने की क्षमता होती है - अगर सशस्त्र विद्रोहियों के साथ एक आदमी जुड़ता है, तो अहिंसक विरोधियों के साथ औसतन 11 लोग जुड़ जाते हैं। अहिंसक अभियान इसलिए भी सफल होते हैं क्योंकि यह विरोधी शासन के अंदर सत्ता संतुलन में बड़े बदलावों का स्रोत हैं। समाज के अलग-अलग वर्गों के लोगों के भारी संख्या में किसी आंदोलन से जुड़ने से सुधारवादी मजबूत होते हैं और उसमें शामिल होने लगते हैं, जबकि सुलह-समझौतों के विरोधी अपने सारे समर्थक-स्रोतों को खो बैठते हैं। जब आंदोलन में जनता की भागीदारी अहिंसक होती है, तब प्रशासन भी अक्सर मौजूदा नेतृत्व को समर्थन देना बंद कर देता है। खूनी बदले का डर नहीं रह जाता तो सुरक्षा बलों, आर्थिक रूप से संपन्न वर्गों और नौकरशाहों की निष्ठाएं भी बदल जाती हैं।

दूसरे शब्दों में कहें तो हमने पाया कि अहिंसक विरोध बदलाव लाने की अपनी क्षमता के चलते नहीं बल्कि अपनी रचनात्मक संभावना, सबको साथ लेकर चलने और दबाव बनाने की अपनी संभावना के कारण प्रभावी होता है - अल्बर्ट आइन्स्टाइन इंस्टीट्यूशन के संस्थापक जीन शार्प दसियों बरस से यह सिद्धांत बता रहे हैं। जाहिर है, सारे अहिंसक आंदोलन सफल नहीं होते हैं। लेकिन उनकी असफलता से यह भी नहीं साबित होता कि उनकी जगह हिंसक आन्दोलन हुए होते तो सफल हो जाते।

वह 2011 की बात है। अब 2016 चल रहा है। तो हमने पिछले पांच बरसों में अहिंसक विरोध के बारे में क्या सीखा? आगे हम राजनीतिशास्त्र के कुछ प्रयोगसिद्ध तथ्यों का संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं, जिनमें से कुछ अहिंसक कार्यवाहियों पर संदेह करनेवालों को हैरान कर देंगे।

1. अहिंसक आन्दोलन और आम होते जा रहे हैं

अगर आपको लगता है कि हम इतिहास के एक ज्यादा ही विध्वंसकारी युग में जी रहे हैं, तो आपको सही लगता है। लेकिन इस युग का विध्वंस अपनेआप में अनूठा है। दी मेजर एपिसोड्स ऑफ कन्टेनशन/प्रमुख विवादास्पद प्रकरण परियोजना [डेन्वर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एरिका चेनोवेथ द्वारा चलाया जा रहा डेटा प्रोजेक्ट] के अनुसार आज पूरी दुनिया में सबसे ज्यादा प्रतिरोध अभियान अहिंसक ही चल रहे हैं। दी नावको डेटा प्रोजेक्ट, जिसके डेटा के स्रोत और समावेश के मापदंड अलग हैं, उसके और कुछ अन्य विरोध-डेटा-संग्रहों से भी हमें ऐसे ही नतीजे मिल रहे हैं— जहां हिंसक विद्रोहों की आवृत्ति जो युद्ध में 1,000 हताहत प्रतिवर्ष से तय होती है - 1970 से घटती चली जा रही है, वहीं मुख्य रूप से अहिंसक विरोध पर आधारित अभियानों की संख्या आसमान छूने लगी है। गौर करें कि यह आंकड़े विशेष रूप से उन आन्दोलनों के हैं जिनका लक्ष्य पदासीन राष्ट्रीय नेतृत्व को सत्ता से हटाना या फिर विदेशी सैन्य आधिपत्य या औपनिवेशिक सत्ता को बाहर निकालकर क्षेत्रीय स्वतंत्रता हासिल करना था।



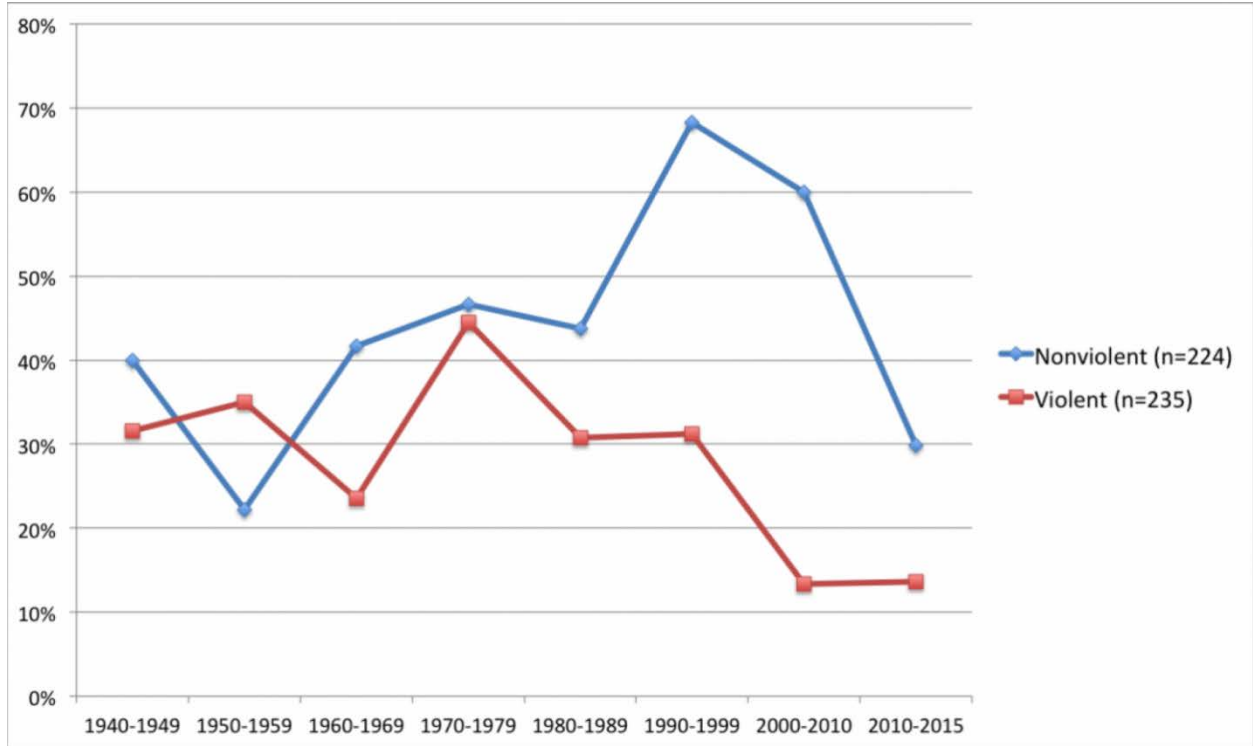
अहिंसक [एन=224]

हिंसक [एन=235]

इस दशक के शुरूआती पांच वर्षों में ही हमने 1990 के पूरे दशक से कहीं ज्यादा और लगभग 2000 के दशक जितने ही, नए अहिंसक आन्दोलन शुरू होते देखे हैं। लगता है यह दशक इतिहास का सबसे विवादपूर्ण दशक होने वाला है।

2. ज़्यादा आम होने पर भी अहिंसक आन्दोलनों की संपूर्ण सफलता-दर घट गयी है.

अहिंसक आन्दोलनों में जितनी तेज़ी से बढ़ोतरी हुई है, उन्होंने उतने ही कठिन सबक भी दिए हैं. 1990 के दशक में अहिंसक आन्दोलनों की सफलता-दर अपने शीर्ष पर थी, लेकिन इस दशक में अहिंसक विरोध की सफलता-दर में तेज़ गिरावट देखी गयी है.



अहिंसक [एन=224]

हिंसक [एन=235]

इसके कई कारण हो सकते हैं. एक तो यह कि शायद पदासीन प्रतिद्वंद्वियों ने सबक सीख लिया है कि ऐसे विरोधों से कैसे निपटा जाए. कुछ दशक पहले तक वे भले ही जनता की शक्ति को कम आंककर उसे अपनी सत्ता के लिए बड़ी चुनौती न समझते रहे हों, पर आज वे अच्छी तरह जानते हैं कि जनता का अहिंसक आन्दोलन उनके लिए कितना बड़ा खतरा हो सकता है. इसलिए आज वे उसे रोकने में कोई कसर नहीं उठा रखते. वे शायद ब्रूस बुएनो द मेस्कुइता और एलस्टेयर स्मिथ की 'डिक्टेटर्स हैंडबुक' से प्रेरणा लेते हैं – या फिर ऐसे विरोधों के उठते ही बड़ी चतुराई से उन्हें दबा देते हैं. सत्तासीनों में पनपी इस नयी समझ को स्मिथ कॉलेज की केचम् चेर इन मिडल ईस्ट स्टडीज़ के स्टीवन हेडमन 'authoritarianism 2.0'/अधिनायकवाद 2.0' कहते हैं, जो एटलान्टिक कौंसिल के प्रोजेक्ट 'फ्यूचर आफ़ अथॉरिटेरियनिज़्म' (अधिनायकवाद का भविष्य) का केन्द्रीय विचारबिन्दु है.

दूसरे, हो सकता है कि विरोध के अहिंसक तरीके अपनावनेवाले आंदोलनकारी दुनियाभर के अपने समकालीनों से गलत सबक सीख रहे हों। जैसेकि ट्यूनीशिया में 2010 और 2011 में हुए सामूहिक प्रदर्शन और धरनों की खबरें पढ़कर गलतफहमी हो सकती है कि सिर्फ तीन हफ्ते प्रदर्शन करके किसी तानाशाह को उखाड़ फेंका जा सकता है। लेकिन यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि इससे पहले ट्यूनीशिया में जबरदस्त संगठित श्रमिक गतिविधियां चलती रही थीं जिनसे इस विद्रोह को बल मिला। और रोज रोज के धरनों से ट्यूनीशिया की अर्थव्यवस्था के चरमरा जाने का खतरा इस हद तक बढ़ा कि वहाँ के संभ्रांत वर्ग और उद्योगपतियों ने राष्ट्रपति ज़ीन अल-अबिदीन बेन अली को समर्थन देना बंद कर दिया, साथ ही सुरक्षा बलों ने भी प्रदर्शनकारियों पर स्वचालित हथियार चलाने के उनके आदेश को मानने से इनकार कर दिया।

एक ही स्थितियों का सामना करनेवाले आन्दोलनकारियों का एक दूसरे से प्रेरणा लेना स्वाभाविक है, लेकिन इससे उन्हें अक्सर असफलता ही मिलती है। जैसाकि टेक्सस विश्वविद्यालय के कर्ट वेलैंड ध्यान दिलाते हैं कि, 1848 में जब दुनियाभर में हिंसक क्रातियों की लहर आई हुई थी, सभी जगह असंतुष्टों ने फ्रांस द्वारा अपने सम्राट के विरुद्ध विद्रोह के लिए उपयोग की गई रणनीति अपनाई। लेकिन उन के सम्राट कुछ अलग किस्म के प्रतिद्वंद्वी निकले, वे विद्रोह से निपटने के लिए ज्यादा सक्षम और ज्यादा तैयार थे, इसलिए असंतुष्टों ने मुँह की खायी। क्रान्ति की लहर यहाँ देर से पहुँची और तब तक ये सम्राट विद्रोहियों की चाल को पहले से समझकर उन्हें कुचलने और विरोधियों में फूट डालकर उन्हें अपने पक्ष में करने में माहिर हो चुके थे। ऐसी ही गतिशीलता आज हमें खास करके वहाँ के सत्ताधारियों में भी दिखाई दे रही है जहाँ क्षेत्रीय विद्रोह अपने अंतिम चरण में है।

3. फिर भी, मानो या ना मानो, अहिंसक आन्दोलन आज भी हिंसक विद्रोहों से कहीं ज्यादा कामयाब हैं।

1960 से ही हम देख रहे हैं कि अहिंसक आन्दोलनों की तुलना में हिंसक आन्दोलनों के नतीजे कहीं बुरे रहे हैं। सच तो यह है कि 1900 से 2015 के बीच कुल 51 प्रतिशत अहिंसक आन्दोलन सफल रहे, जबकि सिर्फ 27 प्रतिशत हिंसक आन्दोलन ही सफल रहे। इस दशक में भी अब तक 30 प्रतिशत अहिंसक आन्दोलन सफल रहे हैं, जबकि हिंसक आन्दोलनों में से 12 प्रतिशत ही सफल रहे हैं। यानी दोनों तरह के आन्दोलनों की सफलता में जो आनुपातिक अंतर आया है, वह अब सचमुच औसत से कहीं ज्यादा बढ़ा हो चुका है।

4. अहिंसक जन आन्दोलनों के लिए हिंसक गुट बहुत हानिकारक हैं।

2011 से ही इस मुद्दे पर काफ़ी बहस चली है कि मूल रूप से अहिंसक आन्दोलन में अगर थोड़ी सी हिंसा से भी काम ले लिया जाए तो इससे आन्दोलन को फ़ायदा होगा या नुकसान? यहाँ अमेरिका में यह सवाल 'युद्धनीति की विविधता' जैसी बहसों में अक्सर उठाया जाता है। मगर विरोध के अहिंसक, हिंसक या मिश्रित तरीकों में से कौन सा अपनाएं—यह दुविधा दुनियाभर के, मूलभूत परिवर्तन लाने

के लिए संघर्षरत, कई आन्दोलनों के सामने आता है. इसके पक्ष और विपक्ष में, समीक्षकों, पंडितों और आंदोलनकर्ताओं के जो भी दावे हों, अभी हाल ही तक इस प्रश्न का शायद ही कोई गंभीर प्रयोगसिद्ध मूल्यांकन किया गया हो.

“मोबिलाईज़ेशन” के अपने हालिया लेख में रूटगर्स विश्वविद्यालय के चेनोवेथ और कर्ट शॉक ने हिंसा के सीमित प्रयोग का अध्ययन करने के लिए तुलनात्मक आंकड़े इस्तेमाल किये. उन्होंने पाया कि **हिंसक गुट** कुछ देर के लिए मीडिया का ध्यान खींचने, यह जताने कि हिंसा आत्मरक्षा के लिए थी. उग्र विद्रोह के हिमायतियों की निष्ठा बढ़ानेवाली विरोधी संस्कृति को फुस्स करने या ‘भड़ास निकालने’ से मानसिक विरेचन जैसे प्रक्रियात्मक लक्ष्य हासिल करने में मदद कर सकते हैं. लेकिन **इनका उपयोग** आन्दोलन के लगातार वृद्धिमान और विविधतापूर्ण जनाधार को बनाए रखने और तीसरे पक्षों और सुरक्षाबलों की निष्ठाओं को अपनी तरफ मोड़ने जैसे दीर्घकालीन लक्ष्यों की बहुत हानि करता है. उन्हें सुबूत मिले हैं कि इस ज़रा सी हिंसा से जनता की भागीदारी की दर घटती है और हिंसा के समर्थकों की भागीदारी बढ़ती है जिससे अहिंसक विरोध का तरीका अपनाने का सबसे बड़ा लाभ ही खत्म हो जाता है. ऐसे ही एक और अध्ययन में पाया गया कि **हिंसक गुट** सत्ता द्वारा दमन को बढ़ा देते हैं, जिससे आन्दोलन में भाग लेनेवाले कम होते जाते हैं. इस तरह हम देखते हैं कि औसत रूप से, अहिंसक आन्दोलनों की सफलता में **हिंसक गुट** बिलकुल सहायक नहीं होते.

प्रिन्सटन विश्वविद्यालय के ओमर वैसौ अहिंसक बनाम हिंसक विरोधों के राजनीतिक प्रभावों के बारे में कुछ और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं. वे 1960 के अश्वेत अमेरिकियों के नागरिक विरोधों के विवरण देकर बड़े विश्वसनीय तरीके से सिद्ध कर देते हैं कि जब अमेरिका में अहिंसक विरोध तेज़ हुए तो ‘नागरिक अधिकारों’ को सबसे बड़ा मुद्दा मानने और उनका समर्थन करनेवालों की संख्या बहुत बढ़ गयी, जबकि हिंसक विरोधों में तेज़ी आने पर ज़्यादातर लोग ‘क्रानून और व्यवस्था’ को सबसे बड़ा मुद्दा मानने और उनका समर्थन करने लगे. 1965 के बाद, जब हिंसक विरोध आम हो गए, तब जनमत नागरिक अधिकारों से हटकर पुलिस की जवाबी कार्रवाई के पक्ष में हो गया. इससे पता चलता है कि किसी आन्दोलन के हिंसक होने पर उसके सबसे महत्वपूर्ण समर्थक उससे मुँह मोड़ लेते हैं. हैरानी की बात है कि जनमत का महत्व केवल अल्पकालीन ही नहीं होता, दूरगामी भी होता है: वैसौ ने पाया कि ‘क्रानून और व्यवस्था’ के लिए जनसमर्थन के तार सीधे-सीधे रिपब्लिकन नेतृत्व को मिलनेवाले वोटों से जुड़े हुए थे. इससे पता चलता है कि अमेरिका में अलग-अलग तरह के विरोधों के दूरगामी राजनीतिक प्रभाव रहे हैं.

5. अहिंसक संघर्षों का पहले से अंदाज़ा लगाना बहुत मुश्किल है.

पूरा का पूरा समाजशास्त्र एक अरसे से इस प्रश्न से जूझ रहा है कि सामाजिक या विरोधी आन्दोलन कब होते हैं. अधिकतमवादी अहिंसक प्रतिरोध अभियानों की बात अलग है, चूंकि वो पहले से मानकर चलते हैं कि अगर मौजूदा हालात में राष्ट्रीय स्तर पर

बुनियादी बदलाव लाने हैं, तो उन्हें सरकार के खिलाफ़ बहुत विध्वंसकारी और समन्वित कार्रवाइयां करनी होंगी. अहिंसक प्रतिरोधों के कारणों का मूल्यांकन करनेवाले अध्ययनों ने कई पारस्परिक संबंधों की पहचान की है, जैसेकि, उत्पादन क्षेत्र की घनिष्ठता (बूचर एंड स्वेंसन 2014), भावनाएं (पर्लमैन 2013), भौगोलिक निकटता (ग्लेदिश एंड रिबेरा 2015), और विरोध का इतिहास (ब्रेथ्वार्ट, ब्रेथ्वार्ट एंड क्यूबिक 2015). 2015 में, चेनोवेथ और जे उल्फ़ेलडर ने जनविद्रोहों के बहुत से सामान्य सिद्धांतों का मूल्यांकन किया और पाया कि उनमें से बहुत कम ही इस बात का सटीक अंदाज़ लगा पाते हैं कि अहिंसक आन्दोलन कब होंगे. सशस्त्र आन्दोलनों, तख़्ता-पलटों या राज्य-पतन का विद्वान लोग काफ़ी सही अंदाजा लगा लेते हैं, लेकिन अहिंसक जन-आन्दोलन करीब-करीब कहीं भी और किसी भी कारण से हो सकते हैं. अक्सर वे वहां भी होते हैं जहां विद्वान समझते हैं कि असहमति को प्रभावी ढंग से लामबंद करना तो दूर, असहमत लोगों को लामबंद कर लेने की अपेक्षा तक नहीं की जा सकती. आजतक यह नहीं समझा जा सका है कि आखिर अहिंसक जन-आन्दोलन शुरू कैसे होते हैं और क़ायम कैसे रहते हैं. चेनोवेथ और उल्फ़ेलडर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जन-बल आन्दोलन इतने प्रासंगिक और आकस्मिक होते हैं कि पूर्वानुमान के आम उपकरणों और आंकड़ों की संरचनाओं से उनके घटित होने के कारण को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता. इस बात को यूं भी समझा जा सकता है कि अहिंसक विद्रोहों के आयोजक, अकल्पनीय रूप से रचनात्मक तरीकों से विपरीत परिस्थितियों से पार पाते हैं. हमारा अगला तर्क इसी बारे में है.

6. दमन हर विरोधी अभियान को ललकारता है लेकिन ज़रूरी नहीं कि उससे अहिंसक प्रतिरोध का विकल्प या नतीजा पहले से तय हो जाए.

अहिंसक विरोध के बारे में एक प्रचलित तर्क यह है कि यह उसी स्थिति में संभव और शायद सफल भी हो सकता है जब तक सामनेवाला शराफ़त दिखा रहा है. लेकिन अगर विपक्षी भी अपनी पे आ जाए तो अहिंसक विरोध असंभव और निरर्थक हो जाता है. हमने 2011 की अपनी किताब में इस तर्क पर कुछ चर्चा की थी लेकिन अभी हाल के कुछ लेखन में भी इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर बात हुई है।

तो क्या क्रूर दमन के कारण अहिंसक विरोध की संभावनाएं बनती हैं? फिलिस्तीनी राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में अपनी बेहतरीन किताब में, वैन्डी पर्लमैन तर्क देती हैं कि केवल दमन के बिंदु पर ध्यान देते हुए इस बात को नहीं समझा जा सकता कि आखिर एक अहिंसक संघर्ष हिंसक क्यों हो गया. उनका कहना है कि दमन तो 'पहले इन्तिफ़ादा' के अहिंसक दौर में भी इस आन्दोलन के हिंसक दौरों जितना ही प्रचंड था. वे कहती हैं कि हिंसा के प्रति झुकाव को सामाजिक एकता के स्तर से बखूबी समझा जा सकता है. जब इस आन्दोलन के पास एक सामूहिक दृष्टि, नेतृत्व और आंतरिक मानकों और नियमों का स्पष्ट संग्रह था, तब यह इजरायली सरकार द्वारा

लगातार दमन के बावजूद अहिंसक बना रहा. शोधकर्ता जोनाथन सटन, चार्ल्स बुचर और इसाक स्वेसन का भी यही कहना है कि दमन के दौर में कोई आन्दोलन कब तक टिक पायेगा, यह सबसे ज़्यादा उसके गठन और प्रबंधन से तय होता है.

वे परिमाणायत्मक आंकड़ों की मदद से समझाते हैं कि जब कोई सरकार निहत्थे प्रदर्शनकारियों के खिलाफ़ एकतरफ़ा हिंसा और क्रूरता करती है तो इसका परिणाम आखिरकार प्रदर्शनकारियों की जीत हो सकता है, बशर्ते वे एक विशाल और समन्वित आन्दोलन का हिस्सा हों.

वैसे कुछ शोधों में अत्याधुनिक दमनकारी सरकारों, खासकर जो अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के लिए नरसंहार भी कर सकती हैं, से लड़ने की अहिंसक विरोधियों की क्षमता पर संदेह भी व्यक्त किया गया है. 1975 से 1985 के बीच ग्वाटेमाला के सुरक्षा बलों के व्यवस्थित रूप से वामपंथी विरोधियों को ठिकाने लगाने के बारे में क्रिस्टोफ़र सलीवान की हाल ही में आई किताब ऐसे शासनों के परिष्कृत तरीकों और प्रतिबद्धता के बारे में चेताती है. 2011 में, डेरा में प्रदर्शन के बाद अहिंसक प्रदर्शनकारियों का ऐसा ही क्रूर और सोचा-समझा नरसंहार सीरिया की बशर-अल-असद सरकार ने भी किया था – थर्षा देने वाली यह घटनाएं हमें याद दिलाती हैं कि अहिंसक आंदोलनों की सफलता और असफलता की दर अक्सर समान क्यों होती है.

लेकिन, सीरिया जैसे असंभव मामले में भी पहले से यह बताना बहुत मुश्किल होता है कि जनविद्रोह होने पर ऐसी दमनकारी नौकरशाहियाँ अपने मातहतों को पूरी तरह से वफ़ादार बने रहने के लिए मजबूर कर पाएंगी या नहीं. इस संदर्भ में, शीघ्र प्रकाशित होनेवाली अपनी पुस्तक में ली स्मिथी, लेस्टर कुर्त्ज़ और सहयोगियों ने ये पाया कि निहत्थे प्रदर्शनकारियों के विरुद्ध शासन का दमन अक्सर उल्टा पड़ जाता है, क्योंकि इससे जनता में एक नैतिक आक्रोश पैदा होता है. वह विद्रोहियों का साथ देने लगती है और फिर सुरक्षा बल भी पाला बदलकर उनके साथ आ जाते हैं. दरअसल, दमनकारी कांड अक्सर अहिंसक आन्दोलन के परिणाम के बजाय उसका कारण ही होते हैं. इस सिलसिले में ऐमेट टिल की बर्बर हत्या की घटना याद आती है जिसके बाद अमरीका के नागरिक अधिकार आन्दोलन के प्रति जनता का समर्थन, सहानुभूति और भागीदारी बेतहाशा बढ़ गयी थी.

मार्टिन लूथर किंग जूनियर दिवस के उपलक्ष्य में हमने सोचा क्यों न आपको उनके ‘बर्मिंघम जेल से लिखे पत्र’ का यह मार्मिक अंश पढ़ाएं, जिसे आप चाहें तो यहाँ पूरा पढ़ सकते हैं:

“दोस्तों, मुझे कहना होगा कि हमें नागरिक अधिकारों के लिये अपने संघर्ष में हर बढ़त कानूनी और अहिंसक तौरतरीकों पर दृढ़ बने रह कर ही मिली है. यह एक खेदजनक ऐतिहासिक तथ्य है कि विशेषाधिकारप्राप्त समुदाय अपने अधिकार कभी भी स्वेच्छा से नहीं छोड़ते. हो सकता है कि किसी व्यक्तिविशेष की नैतिकता जाग जाए और वह स्वेच्छा से अन्याय का रास्ता त्याग दे; लेकिन, जैसेकि राइनहोल्ड नीबर हमें याद दिलाते हैं, लोगों से कहीं ज़्यादा अनैतिक उनके समुदाय होते हैं. अपने दुखद अनुभवों की बदौलत हम जानते

हैं कि अत्याचार करनेवाला अपनी मर्जी से कभी किसी को आज़ादी नहीं देता; अत्याचार के शिकारों को उससे आज़ादी की मांग करनी पड़ती है. “

बेशक, किंग को अहिंसक आन्दोलन के नैतिक और व्यावहारिक दोनों आयामों की चिंता थी. लेकिन, जैसाकि ‘बर्मिंघम जेल से लिखे पत्र’ पर जोनाथन रीडर की किताब से स्पष्ट होता है, हमें किंग की व्यावहारिक समझ को कम नहीं आंकना चाहिए.

ज़ाहिर है, अहिंसक विद्रोह के बारे में अभी और भी बहुत कुछ जानना-समझना बाकी है. यह एक नयी चीज़ है और इससे जुड़े समाजशास्त्रीय शोध भी इसी के साथ-साथ आकार ले रहे हैं. इस विषय पर क्रमबद्ध शोध होंगे, तो दमन का विरोध करना चाहनेवालों को यह समझने में मदद मिलेगी कि किस तरह के मामले में कब और किस प्रकार से अहिंसक संघर्ष किया जाए. अगर यह बात अच्छी तरह से आ जाए कि अहिंसक आन्दोलन कब और क्यों सफल होते हैं, और उन्हें प्रभावी समर्थन देने का क्या अर्थ हो सकता है तो निरंकुश पुनरुत्थान से लेकर हिंसक अतिवादियों और राज्य के कमज़ोर पड़ने तक की चुनौतियों से आये दिन दो चार होनेवाले नीतिनिर्माताओं को बहुत लाभ होगा.

इस दशक में – जब पहले से कहीं ज़्यादा लोग अहिंसक प्रतिरोध का इस्तेमाल कर रहे हैं, तब – अहिंसा का व्यवहार करनेवालों और शोधार्थियों, दोनों के ही लिये आगे की दिशा तय करने के लिये गांधी और किंग के व्यावहारिक और सैद्धांतिक विवेक से परामर्शकरना बेहतर रहेगा.

एरिका चेनोवेथ डेनवर विश्वविद्यालय में जोसेफ़ कौबेल स्कूल ऑफ़ इंटरनेशनल स्टडीज़ की प्रोफ़ेसर हैं. वो *Political Violence @ a Glance* नामक ब्लॉग की को-होस्ट हैं और कभी-कभी दी मंकी केज के लिए भी लिखती हैं. मारिया जे. स्टीफ़न यू.एस. इंस्टिट्यूट ऑफ़ पीस की सीनियर फ़ेलो हैं और अटलांटिक काउन्सिल की नॉनरेज़िडेंट सीनियर फ़ेलो हैं.
